
 प्रवचन-8, गाथा-17-18, 31

‘समयसार’ 17, 18 (गाथा) का अन्तिम पैराग्राफ। हिन्दी में चला था न? (इसलिए) बहनें—लड़कियाँ थोड़ा कम समझे हों तो फिर से स्पष्ट (करने के लिए गुजराती में लेते हैं)।

परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा... आ...हा...हा...! कैसा है प्रभु अन्दर? अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा! (है)। (अर्थात्), अनुभव हो सकता है — ऐसा यह भगवान आत्मा है। कल हिन्दी में चला था। यह आत्मा अन्दर ऐसा है। (ऐसा) सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि में आया था सिद्धान्त (और) — सन्तों ने उसकी रचना की है, यह भगवान आत्मा। अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा — ऐसा कहकर तो बुलाते हैं। आहा...हा...! हरेक आत्मा को इस प्रकार ही कहा (है)। प्रभु! तुम तो अनुभूतिस्वरूप भगवान हो न। आहा...हा...! आबालगोपाल (अर्थात्), बालक से लेकर वृद्ध को सब को सदाकाल... स्वयं अर्थात्, स्वयं ही अनुभव में आने पर भी... आहा...हा...! गाथा का अर्थ बहुत ऊँचा है। ऐसी बात दूसरी जगह इतने में नहीं।

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर, जिनेश्वर की दिव्यध्वनि में आया था। ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ वहाँ (महाविदेह) गये थे, आठ दिन (वहाँ) रहे थे। उसमें से अन्तर का माल जो मक्खन, वह भगवान के पास सुना और कितनी ही चर्चा श्रुतकेवली—मुनियों के साथ की थी। भगवान की दिव्यध्वनि तो समयानुसार होती है; आगे—पीछे नहीं होती, तत्पश्चात् कोई शङ्का—समाधान हो, वह श्रुतकेवलियों के पास समाधान हुआ। (वहाँ से आकर) फिर यह रचना की। आहा...!

आबालगोपाल... आबाल, अर्थात् बालक से लेकर और वृद्ध को, सभी को सदा काल,... सबको सदा काल स्वयं ही अनुभव में आने पर भी... आहा...हा...! क्या कहते हैं? ज्ञान की पर्याय में (अर्थात्), वह वस्तु त्रिकाल है, (उसका) ज्ञानगुण, उसकी वर्तमान अवस्था में, जो यह ज्ञात होता है, वह ज्ञात नहीं होता; वास्तव में तो अपनी पर्याय ज्ञात होती है। यहाँ तो इससे विशेष कहते हैं। यह (ऊपर कहा, वह) तो व्यवहार है। यह सब ज्ञात होता है, जिसकी भूमिका में ज्ञात होता है, जिसकी सत्ता में, जिसके

अस्तित्व में 'यह है' – ऐसा ज्ञात होता है; वह ज्ञान की पर्याय है। यह वस्तु उसमें नहीं है। आहा...हा... ! जिसके प्रकाश में—सत्ता में, पर्याय में, हों! द्रव्य—गुण की बात नहीं। इस पर्याय में यह सब जो दिखता है, वह यह नहीं दिखता (परन्तु) अपनी पर्याय की सामर्थ्यता उसे जानने की योग्यतावाली है; इसलिए उस पर्याय को जानने से, पर को जानता है – ऐसा कहा जाता है। आहा... !

ऐसा होने पर भी, तदुपरान्त पर्याय में द्रव्य जानने में आता हुआ होने पर भी, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहा...हा... ! पर्याय में यह जानने में आता है, (ऐसा) नहीं; वह तो पर्याय जानने में आती है क्योंकि उस चीज को तो ज्ञान की पर्याय छूती नहीं। जैसे, उस परवस्तु में ज्ञान की वर्तमान अवस्था तन्मय होकर नहीं रहती; वह तो भिन्न होकर रहती है; इसलिए उस पर्याय में यह जानने में आती है – ऐसा कहना, वह व्यवहार है परन्तु उस पर्याय में उससे सम्बन्धित जो अपनी शक्ति है, ज्ञान की पर्याय की सामर्थ्य (है), वह जानने में आती है। यह तो पर्याय तक बात रही।

अब, यहाँ विशेष कहते हैं। आहा...हा... ! इस पर्याय में आबालगोपाल – सभी को सदा काल अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा (अनुभव में आ रहा है)। अब, द्रव्य का लिया, (वह पहले) पर्याय की बात की।

सूक्ष्म पड़े, बापू! यहाँ ऐसे परदेश में यह बात कहाँ से आवे! आहा...हा... ! अनार्य देश। इसमें यहाँ अभी बाहर से कितने ही व्यक्ति आये। 300 (व्यक्ति) आये! आहा...हा... ! यह बात तो अलौकिक है, प्रभु! भले तुमको ऐसा लगे कि यह क्या कहते हैं? प्रभु! भगवान की वाणी अन्दर में से आती है, वह कहते हैं!! आहा...हा... !

पर्याय में भी यह जानने में नहीं आता, किन्तु पर्याय जानने में आती है परन्तु तदुपरान्त यहाँ परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि प्रभु! तेरी पर्याय में ऐसी ताकत है कि अकेले पर, प्रकाशक(पने) जानते हो, इतनी ताकत नहीं। तेरी पर्याय में पर को प्रकाशित करता है, वह पर के कारण नहीं। स्वयं के कारण वह पर को प्रकाशित करती है, इतनी (ही) पर्याय की सामर्थ्य नहीं, परन्तु इस पर्याय की सामर्थ्य, द्रव्य को भी जानती है – ऐसी सामर्थ्य है। आ...हा...हा... ! कल हिन्दी आया था न! यह बहनों—लड़कियों को समझ में नहीं आया

(हो) तो फिर से (लेते हैं), वह तो फिर से आये तो (भी) कोई नया तो आवे ही अन्दर।
आहा...हा...!

प्रभु! प्रभु को कहते हैं। ऐसा कहा न? देखो! अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा –
ऐसा कहा। आ...हा...हा...! अनुभव में (आने) योग्य, अनुभव होनेयोग्य ऐसा भगवान
आत्मा! पर्याय में पर प्रकाशित होता है – ऐसा नहीं, क्योंकि पर्याय में पर्याय तन्मय है, पर्याय!
पर्याय, पर्याय में तन्मय है, (इसलिए) वह उसे जानता है – ऐसा कहना बराबर है परन्तु
पर को जानता है (ऐसा कहने पर) उसके साथ तन्मय नहीं। तन्मय, अर्थात् उसके सम्बन्ध
का जुड़ाव नहीं; इसलिए पर को जानने के काल में भी, पर्याय स्वयं को ही जानती है। समझ
में आया? आ...हा...हा...! उस पर्याय में तदुपरान्त (अर्थात्), पर प्रकाशक है, यह स्वतः
स्वभाव है; तदुपरान्त स्व-प्रकाशक स्वभाव है। स्व-पर प्रकाशक स्वभाव।

स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी,
तातैं वचन भेद भ्रम भारी।
ज्ञेयशक्ति दुविधा परगासी,
निजरूपा पर रूपा भासी ॥46॥

पर ये ही ज्ञान की पर्याय में.... सूक्ष्म पड़े तो, प्रभु! परन्तु एक बार सुन तो! ऐसा अवसर
नहीं मिलेगा। यह तो कुदरती ही आ पड़े हैं। यहाँ यह परदेश में-अनार्य देश में कहाँ (ऐसा
सुनने को मिले)। आहा...हा...!

भगवान आत्मा! इसकी पर्याय की सामर्थ्य, पर को जानने की नहीं, (फिर भी) पर
को-पर सम्बन्धी जानने की स्वयं की ताकत है, उसको यह जानता है। तदुपरान्त इस पर्याय
में... यह तो पर प्रकाशक की स्वतः सामर्थ्य हुई। पर प्रकाशक की स्वतः सामर्थ्य पर्याय में
हुई परन्तु इस पर्याय में स्वतः सामर्थ्य स्वद्रव्य को जानने की भी सामर्थ्य है। समझ में आया?
आ...हा...हा...! यह भगवान आत्मा, आबाल-गोपाल.... यहाँ तो द्रव्य लिया न? पहली
बात तो पर्याय की थी, यह बात तो आ गयी है परन्तु यहाँ तो अब द्रव्य लिया। जिस पर्याय
की सामर्थ्य पर को जानती नहीं, परन्तु पर सम्बन्धी अपनी पर्याय में इतनी सामर्थ्य है, उसको
यह जानता है। आ...हा...हा...! इस पर्याय में इतनी ताकत (है कि) पर प्रकाश की

(शक्ति), पर की अपेक्षा बिना—पर को जानने की ताकत, पर की अपेक्षा बिना स्वतः पर्याय में जानने की ताकत है। यह जो पर्याय में स्वतः अनुभूति(स्वरूप) भगवान आत्मा! आ...हा...हा...! है? **सभी को** (अर्थात्), सभी को **सदा काल स्वयं ही...** (अर्थात्), परमात्मा ही पर्याय में अनुभव में आता है। आहा...हा...! यह बात अलौकिक बात है।

एक भाई ने लिखा है न? एक क्षुल्लक थोड़ा सुनने आते थे। बुद्धि बहुत कम थी परन्तु प्रेम बहुत था। वह तो गुजर गये, बाद में उन्होंने थोड़ा ग्रहण किया था। 'पर से खस, स्व में बस, यह थोड़ा रच, तेरे लिए बस!' आहा...हा...! कैसे बैठे...? पर की ओर झुकाववाला अनादि (का) भाव, मानों पर को ही जानता हूँ! पर्याय में भी मानो पर को ही जानता हूँ। भगवान! बात तुझे कठोर लगेगी नाथ! किन्तु वस्तु का स्वरूप प्रभु ऐसा है। आहा...हा...! यह तो तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर के श्रीमुख से निकली हुई दिव्यध्वनि, उसका सार यह 'समयसार' है। इसमें यह कहा था। आ...हा...हा...! अरे...! एक ही गाथा बस है न! लक्ष्मीचन्दभाई! कल की यह बात फिर से आयी है। यह गुजराती में आयी, (कल) हिन्दी में थी। बहनों—लड़कियों को समझ नहीं आया हो, (इसलिए) आज गुजराती में लिया। दोपहर में एक—दो बहनें अधिक आती हैं। सबेरे थोड़ा कामकाज होता है न, (इसलिए नहीं आती)!!

आहा...हा...! माताओं, बहनों—लड़कियों सभी भगवान हैं। अन्दर तो भगवानस्वरूप हैं। आ...हा...हा...! बहिन ने (वचनामृत में) कहा नहीं? हम तो सभी को चैतन्य सिद्धस्वरूप देखते हैं। इनके आत्मा को यह चाहे जो मानते हों, लेकिन हमें तो पर्यायबुद्धि चली गयी है; इसलिए इनको पर्यायबुद्धिवाला न देखकर, इनको चैतन्य सिद्ध भगवान आत्मा है, वैसे वे दिखायी देते हैं। आहा...हा...! वह भी पर्याय में पर का जानना होता है। परद्रव्य... शुद्ध चैतन्य भगवान को जानना (होता है), वह भी पर्याय में (होता है)। आहा...हा...!

पर्याय समझ में आती है? अवस्था! वस्तु जो त्रिकाल आत्मा है, (वह) अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु है। अनादि से है (और) अनन्त काल रहेगा। इस वस्तु की उत्पत्ति नहीं, वैसे ही विनाश नहीं; वह उसके स्वभाव की सामर्थ्य से खाली नहीं। उसके स्वभाव की सामर्थ्य से खाली नहीं — ऐसा जो भगवान आत्मा, शरीररूपी मन्दिर में भगवान विराजते

हैं। इसकी पर्याय में पर को जानने की अपेक्षा भी नहीं। पर्याय में स्वयं को जानता है, उसमें पर जानने में आ जाता है – ऐसा कहना व्यवहार ह... वह पर्याय। आहा...हा...! अनुभव में सदाकाल स्वयं आता हुआ भी **अनादि बन्ध के वश...** क्या कहते हैं? है तो ऐसा परन्तु इसकी दृष्टि राग के सम्बन्ध में जुड़ान हुई है। राग के सम्बन्ध में जुड़ान है, अर्थात् राग का बन्ध है; भगवान् अबन्धस्वरूप है। आहा...हा...! वस्तु है, वह अबन्धस्वरूप है। अनुभूति(स्वरूप) भगवान् (आत्मा) कहा न? किन्तु पर्याय में राग के साथ सम्बन्ध कर (लिया है)। एक समय की पर्याय के साथ, राग के साथ सम्बन्ध (कर लिया है)। सम्बन्ध, यह बन्ध... इस सम्बन्ध के बन्ध के वश, आहा...हा...!

अनादि बन्ध के वश, पर (द्रव्यों)के साथ एकत्व के निश्चय से... आहा...हा...! इस राग को जानने पर, इसकी एकत्वबुद्धि होती है; (इस कारण) इसको द्रव्यस्वभाव जानने में नहीं आता। इसकी पर्याय की सामर्थ्य—पर्याय की ताकत चैतन्य पूर्णानन्द को जानने की ताकत से ही सदा रही है, तथापि उस पर्याय की दृष्टि, द्रव्य के प्रति जाती नहीं और उस पर्याय की दृष्टि, पर्याय के प्रति और राग के प्रति होने से एकत्वबुद्धि (होती है)। आहा...हा...! (उस) एकपने में **‘एकत्वपने के निश्चय से मूढ़...’** एक ओर ‘भगवान्’ कहकर बुलाया, आहा...हा...! एक ओर मूढ़ कहकर बतलाया... बतलाया! **निश्चय से मूढ़ जो अज्ञानी, उसको ‘यह अनुभूति है, वही मैं हूँ...’** (अर्थात्), इस जानने में अन्दर अनुभूति-ज्ञान आता है, पर्याय में जानने में ज्ञान आता है, वही मैं हूँ – ऐसी बुद्धि (अर्थात्), **ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता...** आहा...हा...!

आत्मज्ञान, अर्थात् आत्मा (का ज्ञान)। आत्मज्ञान में पर्याय भी नहीं ली। यहाँ तो ‘आत्मज्ञान’ कहा। संयोग का तो ज्ञान नहीं, राग का तो नहीं, पर्याय का भी नहीं; आत्मज्ञान! द्रव्य जो भगवान् आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्णानन्द का नाथ है, प्रभु! (उसका ज्ञान, वह आत्मज्ञान)। इसमें भेद और विवाद और झगड़ा कहाँ है, प्रभु! आहा...हा...हा...! परमात्मस्वभावरूप से विराजमान (है), प्रभु! किसके साथ तेरा विवाद और झगड़ा हो? नाथ! आहा...हा...!

कहते हैं कि राग के साथ एकत्व से मूढ़—अज्ञानी को **‘यह अनुभूति है, वही मैं हूँ’**

(अर्थात्), यह ज्ञान जानने में आता है, वही मैं हूँ – ऐसा न होने से – ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता। आहा...हा...! जाननेवाला ज्ञान, वह मैं हूँ – ऐसा आत्मज्ञान (उदित नहीं होता)। आत्मा, अर्थात् द्रव्य; पर्याय में द्रव्य का ज्ञान (अर्थात्), आत्मज्ञान उदित नहीं होता। आहा...हा...! है? आ...हा...हा...! और उसके अभाव से... ज्ञान में जानने में आता (होने) पर भी, वह पर्याय को उसके सन्मुख नहीं करता; इस कारण जानने में आता हुआ भी, जानता नहीं... जानने में आता हुआ भी, जानता नहीं! आ...हा...हा...!

थोड़ा सूक्ष्म पड़ेगा, प्रभु! किन्तु यह बात कल आ गयी थी। दिमाग में ऐसा लग रहा था कि बहनें—लड़कियाँ कदाचित् कोई हिन्दी न समझती हों तो फिर से लूँ! इसमें तो फिर से लो तो भी भगवान ही भगवान की बात है!! आहा...हा...! भगवान अन्दर देह में बिराजमान है। कैसे जँचे प्रभु! आहा...हा...! एक उड़द की दाल एकरस न हुई हो... 'एकरस', अर्थात् (क्या होता है, यह पता है)? दाल चढ़कर ऐसी पानी में एकमेक न हुई हो तो ढीचणी उठे – किसने ऐसा किया? ऐसी उड़द की दाल! मेल नहीं खाती। ऐसों को यह भगवान आत्मा को समझाना! जेठालालभाई! आहा...हा...!

भगवान! तू ऐसा है, हों! चाहे जिस प्रकार तू दूसरों को एकरूप भले माने परन्तु वे एकरूप नहीं होते। वह वस्तु त्रिकाली है, वह एकरूप नहीं होती, नाथ! आ...हा...हा...! तू भले एकरूप मान...। आहा...हा...! किसी के लड़के को अपने लड़केरूप तू मान, परन्तु वह (तेरा) नहीं होता। आहा...हा...! कुंवर गोद लेते हैं न? गोद... गोद...! बाद में (कहता है) 'हमारा बेटा' तो भी वह कोई वास्तव में इसका बेटा नहीं है। ऐसे तू चाहे जैसा मान प्रभु! परन्तु तेरा आत्मद्रव्य जो अन्दर है, उसको जानने की ताकतवाला ज्ञान है, उसका तो कभी अभाव नहीं होता। तेरी मान्यता में अन्तर पड़ता है। आहा...हा...!

ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभाव से अज्ञात का श्रद्धान... जो चीज ही जानने में आयी नहीं (तो उसकी श्रद्धा किस प्रकार हो?) आहा...हा...! अब इसमें बाहर के झगड़े क्या हैं, प्रभु? व्यवहार के झगड़े की (बात को) छोड़कर, एक ओर। इस अन्तर तत्त्व को निहार न! अन्दर भगवान है। आहा...हा...! कहते हैं, अज्ञात का श्रद्धान... जो चीज ख्याल में ही (आयी) नहीं, उसका श्रद्धान किस प्रकार हो? गधे के

सींग नहीं, तो (वह चीज) ख्याल में ही नहीं आयी, उसकी प्रतीति किस प्रकार (हो)? जो चीज ज्ञान में – ख्याल में आयी नहीं, उसकी प्रतीति किस प्रकार (हो)? ऐसे ही ज्ञान में आत्मा ख्याल में नहीं आया, उसकी प्रतीति किस प्रकार करेगा? हम आत्मा को मानते हैं – ऐसा भले बोले, किन्तु उसके ज्ञान में आत्मा जानने में नहीं आया; इस कारण उसकी प्रतीति और यथार्थ विश्वास नहीं आया। आ...हा...हा...! यह तो सभी को—जवानों को समझ में आये ऐसा है। युवा है कहाँ, प्रभु! यह युवा भी नहीं, वृद्ध भी नहीं, बालक भी नहीं, स्त्री भी नहीं, पुरुष भी नहीं; वह पर्याय जितना भी नहीं। आ...हा...हा...हा...! महा—सच्चिदानन्द प्रभु! भगवत् मूर्ति अन्दर आनन्द का नाथ! उसको सुना नहीं, प्रभु! तूने... उसने उसकी तरफ लक्ष्य किया नहीं। प्रभु! आहा...हा...!

इस कारण उसके जानने के अभाव से, अज्ञात का श्रद्धान, गधे के सींग के श्रद्धान के समान होने से... आहा...हा...! जिस ज्ञान की पर्याय में जानने में आया, फिर भी जानता नहीं, उसे जानता नहीं। उसे जाने बिना की श्रद्धा, गधे के सींग जैसी है। गधे के सींग होते नहीं तो जानने में आते नहीं तो श्रद्धा किसकी? ऐसे भगवान आत्मा, ज्ञान की पर्याय में जानने में आता नहीं तो इसकी श्रद्धा किसकी? आहा...हा...!

कहो, समझ में आया? ऐसी बातें हैं। ऐसा उपदेश! प्रभु! ऐसा सुनने का योग मिला है।

मुमुक्षु : लाभ की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा...हा...! हमारे तो वहाँ हमेशा चलता है परन्तु यहाँ तो अब आ पड़े हैं! परन्तु यह बात अन्दर से आयी है!! आहा...हा...! आहा...हा...! तुम्हारा चार (लोगों) का आग्रह था न! हमारे रायचन्दभाई, एक.... भाई। यहाँ बैठे हैं। दो और दो तुम्हारे लक्ष्मीचन्दभाई और जेठाभाई। चार...

मुमुक्षु : नैरोबी में आपका भाव बहुत था।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा...हा...! लोगों को उत्साह है, प्रेम है, प्रभु! तेरे घर की बात है; यह कोई पर की नहीं। तीन लोक के नाथ की कही हुई बात है। प्रभु! क्या कहें? तीन लोक के नाथ को हमने साक्षात् सुना है! यह सुनी हुई अन्दर की बात है, वह बात आती है। आहा...हा...! आ...हा...हा...! पक्ष के व्यामोह के कारण न जँचे, परन्तु प्रभु! पक्ष का व्यामोह छोड़ दे।

पर्याय में ऐसा भगवान जानने में आने पर भी.... नहीं जाने हुए की श्रद्धा तो गधे के सींग जैसी है। जो चीज ही ख्याल में नहीं आयी, जो वस्तु ही ज्ञान में—ख्याल में नहीं आयी 'उसकी श्रद्धा करो!' परन्तु किस प्रकार श्रद्धा करे? वह चीज ही ख्याल में आयी नहीं, उसकी श्रद्धा किस प्रकार करना? आहा...हा...! इसकी ज्ञान की पर्याय में पर्यायवान प्रभु—अनुभूतिस्वरूप भगवान, ज्ञान में आया नहीं, उसकी श्रद्धा किस प्रकार करना, प्रभु! ज्ञान में चीज आवे कि यह मक्खन है, अथवा यह घी है अथवा यह दूध है, ये ख्याल में आवे, तब तो उसका विश्वास आवे, परन्तु गधे के सींग ख्याल में आते हैं? ख्याल में नहीं आते तो श्रद्धा किसकी? इसी प्रकार भगवान आत्मा, ज्ञान की पर्याय में, वह जानने में नहीं आवे,... त्रिकाल वस्तु भगवानस्वरूप, वह दृष्टि में नहीं आवे और 'श्रद्धा करो!' – ऐसा कहे, वह तो खरगोश के सींग की श्रद्धावत् श्रद्धा है। आहा...हा...! जेठालालभाई!

भाई! ऐसी बातें हैं, प्रभु! थोड़ी कठिन पड़े, परन्तु यहाँ तो 15 दिन तो हुए अब! अब यहाँ तीन दिन हैं। आहा...! आ...हा...हा...! ऐसी बात तो न सुनी हो, उसको कठिन पड़ती है। आहा...हा...! बाहर में ही रुक जाता है, पूरे दिन, धन्धा—पानी, पाप और यह और वह!! भले 5—25 लाख महीने में पैदा होते हों। धूल में इसने किसे पैदा करना, प्रभु! यह आत्मा, तीन लोक का नाथ हाथ न आवे, वहाँ तक तूरंक और भिखारी है! विद्यमान लक्ष्मी हाथ न आवे और अविद्यमान हाथ आवे,... यह बाहर की लक्ष्मी अविद्यमान (है)। वह आत्मा में नहीं है; आत्मा की पर्याय में नहीं; आत्मा के द्रव्य—गुण में भी नहीं। यह विद्यमान लक्ष्मी तो द्रव्य—गुण में है। द्रव्य, अर्थात् वस्तु और उसके गुण (अर्थात्), शक्ति। उनमें विद्यमान चीज अनुभूति (स्वरूप) भगवान हैं। उसकी पर्याय में यदि उसे पहचानने में न आवे तो उसकी श्रद्धा कैसी? खरगोश के सींगवत् श्रद्धा है। हम आत्मा को मानते (हैं) – ऐसा भले कहे, परन्तु वह तो गधे के सींग जैसी श्रद्धा है। आहा...हा...!

कहते हैं, प्रभु! अरे! परमात्मा तुझे 'प्रभु' कहकर कहते हैं! अरे...! तुझे अब शर्म नहीं आती नाथ! आ...हा...हा...! सन्त, भगवान तुझे भगवानरूप से कहें! यह बड़ों का कहेण नहीं फिरता नाथ! आहा...! लड़की का पिता... लड़के की सगाई करनी हो और 50—100 व्यक्तियों का सम्बन्ध आया हो (तो) बड़े घर की कन्या हो और (उसे) पसन्द करते हैं, भले सहज ही काली हो या साधारण हो! क्योंकि 5—25 लाख लेकर आयेगी, उसके पिता

की एक ही पुत्री है, पुत्र नहीं, कोई नहीं – ऐसा जानकर उसको पसन्द करता है। आहा...हा... ! ये बड़े के पैसे के लक्षण के संदेश स्वीकार करनेवाला, इन तीन लोक के नाथ के संदेश को तू स्वीकार न करे ! आहा...हा... ! (यहाँ) कहते हैं कि जाने बिना की श्रद्धा, वह गधे के सींग जैसी है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : गुरुदेव ! आपका सन्देश हम स्वीकार करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा... ! (अन्दर) ? अज्ञात का श्रद्धान, गधे के सींग के श्रद्धान के समान होने से, श्रद्धान भी उदित नहीं होता... (अर्थात्), उसको सम्यक्त्व नहीं होता। आहा...हा... ! अज्ञान की श्रद्धा यह किस प्रकार करेगा ? जानने में चीज आयी नहीं, उसकी प्रतीति, उसका विश्वास किस तरह करेगा ? इसलिए उसको श्रद्धा-समकित प्रगट नहीं होता। वह वस्तु जानने में आयी नहीं, इस कारण उसकी श्रद्धा-विश्वास उसको आता नहीं। आ...हा...हा... ! भाषा तो भाषा ! समझ में आया ? आहा...हा... !

समस्त अन्य भावों के भेद से... इसलिए कहते हैं कि एक तो ज्ञान हुआ नहीं – आत्मज्ञान हुआ नहीं और ज्ञान बिना श्रद्धा भी नहीं हुई, तो अब कहते (हैं) चारित्र भी नहीं होता। आहा... है ? श्रद्धान भी उदित नहीं होता, तब समस्त अन्य भावों के भेद से... (अर्थात्), सभी विकल्पों की भिन्नता से, **आत्मा में निःशंक स्थिर होने की असमर्थता के कारण...** स्वरूप में निःशंकपने स्थिरता, इसका नाम चारित्र, लेकिन यह श्रद्धा ही जहाँ हुई नहीं, वस्तु ही (जानी) नहीं (तो) जाने बिना की श्रद्धा खोटी और श्रद्धा (हुए) बिना, उसको अन्तर में स्थिर होने में निःशंकता आती नहीं। जब तक श्रद्धा में निःशङ्कता न आये, उस कारण निशङ्क स्थिर होने की असमर्थता के कारण, **आत्मा का आचरण उदित नहीं होने से...** आत्मा का चारित्र, आत्मा का आचरण, आत्म-आचरण (होता नहीं)। आहा...हा... ! लोग जो नैतिक सदाचरण कहते हैं – परस्त्री का सेवन न करे, शरीर से ब्रह्मचर्य पाले, परम्परानुसार पाँच तिथियों में कन्दमूल आदि न खाए कि पाँच तिथियों में स्त्री आदि का सेवन न करे – ऐसा किसी का नैतिक जीवन होता है। यह जीवन है, वह तो लौकिक (नैतिक सदाचरण) है, यह कोई वास्तविक जीवन नहीं। आहा...हा... ! इसके आचरण के बिना (अर्थात् कि) प्रभु के आचरण बिना... आहा...हा... ! आत्मा का सत्

आचरण... अन्तर में (अभी) श्रद्धा हुई नहीं तो आचरण कहाँ से आये? किसमें स्थिरता हो? जाना नहीं (और) जाना नहीं, उसकी श्रद्धा किस प्रकार (हो)? और श्रद्धा बिना, स्थिरता किस प्रकार? आहा...हा...! कहो! झवेरचन्दभाई! तेरी बात है प्रभु! थोड़ा सुनकर विचार में लेने जैसी है? बापा! आहा...हा...!

आहा...हा...! निशङ्क स्थिर होने की असमर्थता के कारण, आत्मा का आचरण उदित नहीं होने से... आत्मा का आचरण, अर्थात् कि ज्ञानस्वरूप में स्थिर होना। ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु – सहजात्मस्वरूप में स्थिर होना, उसका नाम आचरण; कोई क्रियाकाण्ड और राग को करना, वह कोई आचरण नहीं। आनन्द का नाथ प्रभु, ज्ञानानन्द सच्चिदानन्द प्रभु का जिसको ज्ञान हुआ नहीं, तो ज्ञान बिना श्रद्धा नहीं, तो श्रद्धा बिना आचरण कहाँ से आये? आहा...हा...! थोड़ी बात बहुत कही गयी है, बापू! असमर्थता के कारण, आत्मा का आचरण उदित नहीं होने, आत्मा को नहीं साध सकता। लो! यह आत्मा को साधता नहीं, वह राग को साधता है! राग को, पुण्य को और पाप को साधता है, भाई! इस प्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है। साध्य जो आत्मा की मुक्ति (उसकी उत्पत्ति नहीं होती)। ध्येय-आत्मा, साध्य-मुक्ति। यह साध्य (आत्मा की) सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति (है)। इस प्रकार उसको सिद्धि की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि आत्मा का ज्ञान नहीं; ज्ञान नहीं तो श्रद्धा नहीं; श्रद्धा बिना चारित्र नहीं (और) चारित्र बिना सिद्धि नहीं। आहा...हा...! कहो। (यह) गुजराती इतना हुआ!

अथ निश्चयस्तुतिमाह । तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत् -

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।

तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥

य इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानम् ।

तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिताः साधवः ॥३१॥

यः खलु निरवधिबन्धपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यास-
कौशलोपलब्धान्तःस्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभाववष्टम्भबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि
प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खण्डशः आकर्षति प्रतीयमानाखण्डैकचिच्छक्तितया भावेन्द्रियाणि
ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धप्रत्यासत्तिवशेन सह सम्बिदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्तेः
स्वयमेवानुभूयमानासङ्गतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिन्द्रियार्थान्श्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन
विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्य-स्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया
नित्यमेवान्तःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतःसिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यान्तरेभ्यः
परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं सञ्चेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः ॥३१॥

अब, (तीर्थकर-केवली की) निश्चय स्तुति कहते हैं । उसमें पहले ज्ञेय-
ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करके स्तुति करते हैं —

कर इन्द्रिय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को ।

निश्चयविषैँ स्थित साधुजन, भाषैँ जितेन्द्रिय उन्हीं को ॥३१॥

गाथार्थ : [यः] जो [इन्द्रियाणि] इन्द्रियों को [जित्वा] जीतकर
[ज्ञानस्वभावाधिकं] ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक [आत्मानम्]
आत्मा को [जानाति] जानते हैं [तं] उन्हें [ये निश्चिताः साधवः] जो निश्चयनय
में स्थित साधु हैं [ते] वे, [खलु] वास्तव में [जितेन्द्रियं] जितेन्द्रिय [भणंति]
कहते हैं ।

टीका : (जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को - तीनों को अपने से अलग करके समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं, वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं।) अनादि अमर्यादरूप बंधपर्याय के वश जिसमें समस्त स्वपर का विभाग अस्त हो गया है (अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता) ऐसी शरीरपरिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को तो निर्मल भेदाज्ञ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से सर्वथा अपने से अलग किया; सो वह द्रव्येन्द्रियों को जीतना हुआ। भिन्न-भिन्न अपने-अपने विषयों में व्यापारभाव से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं (ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप बतलाती हैं) ऐसी भावेन्द्रियों को, प्रतीति में आती हुई अखण्ड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा सर्वथा अपने से भिन्न जाना सो यह भावेन्द्रियों का जीतना हुआ। ग्राह्यग्राहकलक्षणवाले सज्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसी हुई दिखाई देती हैं ऐसी, भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए, इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों को, अपनी चैतन्यशक्ति की स्वयमेव अनुभव में आनेवाली असंगता के द्वारा सर्वथा अपने से अलग किया; सो यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का जीतना हुआ। इस प्रकार जो (मुनि) द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को (तीनों को) जीतकर ज्ञेयज्ञायक-संकर नामक दोष आता था सो सब दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव के द्वारा सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थ से भिन्न ऐसे अपने आत्मा का अनुभव करते हैं, वे निश्चय से जितेन्द्रिय जिन हैं। (ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इसलिए उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है।) कैसा है वह ज्ञानस्वभाव ? विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर तिरता हुआ (उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ), प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनश्यर, स्वतःसिद्ध और परमार्थरूप — ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है।

इस प्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।

(ज्ञेय तो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का और ज्ञायकस्वरूप स्वयं आत्मा का - दोनों का अनुभव, विषयों की आसक्ति से, एकसा होता था; जब भेदज्ञान से भिन्नत्व ज्ञात किया, तब वह ज्ञेयज्ञायक-संकरदोष दूर हुआ ऐसा यहाँ जानना।)

 प्रवचन-8 का शेष , गाथा-31

अब, 31वीं गाथा! 31, हैं न इसमें? लिखा है न? 31वीं (गाथा) लिखा है इसमें। 31, क्या कहते हैं? कि तीर्थकर भगवान की स्तुति करना, पंच परमेष्ठी की स्तुति करना, वह तो विकल्प और राग है। (यहाँ) अब तीर्थकर केवली की निश्चयस्तुति कहते हैं। आहा...हा...! तीन लोक के नाथ तीर्थकरदेव केवलज्ञानी, जिनको एक समय में तीन काल और तीन लोक, पर्याय को जानने पर जानने में आ गये हैं – ऐसे भगवान की स्तुति निश्चय से किसे कहना, यह बात कहते हैं। व्यवहार से भले भगवान ऐसे और तीर्थकर ऐसे (ऐसा कहे, किन्तु वह) निश्चयस्तुति (नहीं)। (यहाँ) शब्द क्या है? तीर्थकरकेवली की निश्चयस्तुति कहते हैं। कहेंगे आत्मा की (स्तुति) पण्डितजी! शब्द ऐसे हैं – भगवान की निश्चयस्तुति – सच्ची स्तुति किसे किसे कहना? पाठ ऐसा है कि तीर्थकर केवली की निश्चयस्तुति कहते हैं। तीर्थकर और केवली (की निश्चयस्तुति) अर्थात् कि इस आत्मा की स्तुति, वह तीर्थकर और केवली की स्तुति है। आहा...हा...! समझ में आया? शब्द तो यह है। अब तीर्थकर-केवली की निश्चयस्तुति कहते हैं। उसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करके स्तुति कहते हैं। अर्थात्? तीर्थकर और सर्वज्ञ या पंच परमेष्ठी, वे इस ज्ञान की पर्याय के ज्ञेय-परज्ञेय हैं। ये परज्ञेय और ज्ञान की पर्याय का संकर अर्थात् खिचड़ा था; आहा...हा...! संकर अर्थात् खिचड़ा। परज्ञेय को जानने पर मुझे जानता हूँ – ऐसी जो विपरीत दृष्टि थी, इसका नाम मिथ्यादृष्टि।

इसमें पहले तो ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष (का परिहार करेंगे)। यह ज्ञेय पर... सूक्ष्म बात आएगी, प्रभु! तीर्थकर, तीर्थकर की वाणी, तीर्थकर का शरीर, तीर्थकर का आत्मा (और) स्त्री का शरीर, स्त्री का आत्मा – ऐसे पूरी दुनिया को यहाँ पर में रखा है, इन्हें इन्द्रिय में रखा है। क्या कहा यह? साक्षात् तीर्थकर, साक्षात् केवली, साक्षात् पंच परमेष्ठी – ये इस आत्मा की अपेक्षा से इन्द्रिय है। आत्मा अनीन्द्रिय है तो ये सभी चीजें इन्द्रिय हैं। आहा...हा...हा...!

तुमने डाली है 31 गाथा। शान्ति से (समझना) बापू! यह तो प्रभु की बातें हैं। यह

कोई ऐसे-वैसे की बात नहीं। लड़के बचपन में सीखते हैं न 'चिड़िया लायी चावल का दाना, चिड़ा लाया मूँग का दाना, दोनों की बनी खिचड़ी, खिचड़ी बाद में कुम्हार को दी और कुम्हार ने दिया घड़ा, और घड़े ने दिया खजूर...।' ऐसी बातें पहले छोटी उम्र में आती थी। ऐसी बातें नहीं यह प्रभु! यह तो तीन लोक के नाथ के कलेजे के अन्दर की बातें हैं। आहा...हा...! सूक्ष्म पड़े, प्रभु! अनजान मनुष्य को ऐसा लगता है कि यह क्या (बात) करते हैं? बापू! तेरे घर की बात करते हैं, भाई! भगवान! तू पूर्णानन्द का नाथ है, प्रभु! आ...हा...हा...!

तेरे अतिरिक्त शरीर, जड़ इन्द्रिय (अर्थात्) यह जड़-इन्द्रिय और भावेन्द्रिय (अर्थात्) जो एक-एक विषय को जानती है - ऐसी भावेन्द्रिय और इन्द्रिय के विषय - स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, पैसा-लक्ष्मी, अरहन्त, अरहन्त की वाणी - इन सबको यहाँ 'इन्द्रिय' कहा गया है। समझ में आया? यह जड़-इन्द्रिय है, अन्दर भावेन्द्रिय - एक-एक इन्द्रिय एक विषय को जानती है। आँख, रूप को जानती है; कान, शब्द को जानते हैं; नाक, गन्ध को जानता है - ऐसा अन्दर जो भावेन्द्रिय (का) उघाड़ है वह (और जड़) द्रव्येन्द्रिय दो और (तीसरा) इन्द्रिय के विषय, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, तीर्थकर और तीर्थकर की वाणी, ये सब इन्द्रिय के विषय हैं। आ...हा...हा...!

इसको यहाँ तीर्थकर केवली की स्तुति न कहकर, भाषा ऐसी है कि मैं तीर्थकर केवली की सत्य स्तुति कहूँगा। सच्ची स्तुति में आएगा आत्मा। आहा...हा...हा...! है? उसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायक... ज्ञायक, अर्थात् आत्मा और ज्ञेय, अर्थात् परचीज - शरीर से लेकर भगवान की वाणी तक सभी ज्ञेय (हैं)। यह ज्ञायक और ज्ञेय, इनका संकर(दोष)... है? ज्ञेय-ज्ञायक का संकर दोष। संकर अर्थात् दो एक हैं; दो का खिचड़ा करता है - मानता है, इसको संकर दोष कहते हैं। इसको दुःख की दशा कहते हैं। आहा...हा...! संकर दोष - दुःखदशा। संकर अर्थात् सुख, दोष अर्थात् दुःख। सुख से विपरीत दुःखदशा। आहा...हा...! तीर्थकर, केवली, पंच परमेष्ठी... सूक्ष्म बात है, प्रभु! आये... शुभभाव आये। समकित होने के बाद भी, मुनि होने के बाद भी, सच्चे सन्त, दिगम्बर मुनि को, उनके अन्दर तीन कषाय का अभाव होने पर भी, तीर्थकर भगवान का स्तवन, स्तुति, भक्ति (का)

शुभभाव आता है परन्तु वह वास्तविक (स्तुति) नहीं – ऐसा कहते हैं। वास्तविक तो आत्मा की स्तुति करना, वह इन तीर्थकर-केवली की स्तुति है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : ऐसी सत्य बात अन्यत्र नहीं मिलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं सुनी, सत्य बात (है)।

मुमुक्षु : गुरुदेव! बाल तीर्थकर की तो बहुत भक्ति हुई थी? लोग बहुत नाचे।

समाधान : वह सब शुभभाव (है)। सूक्ष्म बात है, भगवान! यह आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु! इस भगवान के अतिरिक्त पर में जितना लक्ष्य जाता है, उसे इन्द्रिय में लक्ष्य जाता है – ऐसा कहा जाता है। उसे अतीन्द्रिय ऐसा आत्मा का लक्ष्य नहीं। धीमे से सुनना, प्रभु! यह तो वीतराग के पेट की बातें हैं। सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ वीतराग, महाविदेह में अभी विराजते हैं। उनके समवसरण में 100 इन्द्र आते हैं, बाघ, सिंह, नाग आते हैं। भगवान की वाणी ॐध्वनि निकलती है। ऐसी (शब्दात्मक) वाणी उनकी नहीं होती। 'ओमकार धुनि सुनि अर्थ गणधर विचारे' ॐ...ध्वनि (निकले) होंठ बंद, कण्ठ (हिलता नहीं), उस वाणी में यह आया था। उस वाणी में जो आया, उससे आगम की रचना की। इस आगम की रचना 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने की। इसमें यह आया कि तीर्थकर और केवली की निश्चयस्तुति किसको कहना? तीर्थकर और केवली की सच्ची स्तुति किसे कहना? वह अब अन्दर आएगा, देखो!

जो इन्द्रिये जिणिज्ञा णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।

तं खलु जिदिंदियं ते भणन्ति जे णिच्छिदा साहू ॥31 ॥

नीचे हरिगीत

कर इन्द्रिय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को ।

निश्चयविषैँ स्थित साधुजन, भाषैँ जितेन्द्रिय उन्हीं को ॥31 ॥

टीका : (जो मुनि) अथवा समकित्ती, द्रव्येन्द्रिय... यह जड़ (इन्द्रियाँ), भावेन्द्रियों... जो इन्द्रियों से एक-एक विषय जानने में आते हैं – ऐसी अन्दर भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ... वह द्रव्येन्द्रिय के विषयभूत पदार्थ – इन तीनों को अपने से अलग करके... आहा...हा...! जड़ इन्द्रिय; भावेन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय – इसमें भगवान

और भगवान की वाणी भी आ गयी। गजब बात है, प्रभु! आहा...हा...! निश्चय से सर्व अन्य द्रव्यों से भिन्न, तीनों को अपने से अलग करके समस्त अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं, वे मुनि निश्चय से जितेन्द्रिय हैं। उनको हम यहाँ जितेन्द्रिय कहते हैं। अकेली इन्द्रियों को जीतकर बैठा और शील पाले और विषय सेवन न करे, उसको हम यहाँ जितेन्द्रिय नहीं कहते। आहा...हा...! है?

अनादि अमर्यादरूप बन्धपर्याय के वश जिसमें समस्त स्व—पर का विभाग अस्त हो गया है। (अर्थात्) यह आत्मा और यह जड़ इन्द्रियाँ, इन दोनों की भिन्नता जिसको अस्त हो गयी है, दो की (भिन्नता का) ज्ञान जिसे अस्त हो गया है। आहा...! दोनों की भिन्न(पने) का ज्ञान उदित होना चाहिए, उसके स्थान पर वह ज्ञान इसका अस्त हो गया है। आहा...हा...! यह जड़ इन्द्रिय... यह! शरीर परिणाम को प्राप्त जो द्रव्येन्द्रियाँ... यह शरीर के परिणाम को प्राप्त हुई यह इन्द्रियाँ — यह जड़ इन्द्रियाँ। अनादि अमर्यादरूप बन्ध पर्याय के वश जिसमें समस्त स्व—पर का विभाग अस्त हो गया है। अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही हैं कि भेद दिखायी नहीं देता।

ऐसी शरीर परिणाम को प्राप्त... अब इन्द्रिय की व्याख्या करते हैं। इन्द्रियों को जीतना (— ऐसा कहा तो) इसमें इन्द्रियाँ कितनी प्रकार की (है)? कि एक तो जड़ इन्द्रिय है? शरीर परिणाम को प्राप्त जो द्रव्येन्द्रिय, उसको तो... यह द्रव्येन्द्रिय, अर्थात् यह जड़; कान, यह आँख, नाक ये सब जड़ के छिद्र हैं। ये सब जड़ के — शरीर के परिणाम हैं। ये सभी पाँच इन्द्रियाँ जड़ का परिणाम हैं। आत्मा का परिणाम इसमें नहीं। आ...हा...हा...! उनको तो निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से... आहा...हा...! इन जड़ इन्द्रियों को निर्मल भेदज्ञान का अभ्यास (करके भिन्न किया)। जड़ से मैं भिन्न हूँ — ऐसा अन्दर अभ्यास (किया)। जड़ से मैं भिन्न हूँ — ऐसा आत्मा का अभ्यास। है? भेदाभ्यास की प्रवीणता से... भेदविज्ञान के अभ्यास की प्रवीणता से; अकेले धारणा में भेद लक्ष्य में लिया — ऐसा नहीं, आहा...हा...!

भेदज्ञान की प्रवीणता (अर्थात्) जड़ से अलग आत्मा को जानने की जो प्रवीणता, उससे, प्राप्त जो अन्तरंग में प्रगट... अन्तर में अति प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव

के अवलम्बन के बल से... आ...हा...हा...हा...! ऐसी बात है। चाहे जितनी सरल करे लेकिन वस्तु सरल किस (प्रकार) हो? अरब रुपयों को चाहे जितना हल्का करे तो दो रुपये में क्या अरब आ जाएँ? एक करोड़ में अरब आ जाएँ? अरब की संख्या तो अरब ही रहेगी। ऐसे आत्मा की (स्तुति) जो है, इन्द्रियों से जीतना जिस प्रकार है, उसी प्रकार रहेगा। दूसरा हल्का करने जाएगा तो कुछ नहीं होगा। आहा...हा...!

....अन्तरंग में प्रगट अति सूक्ष्म.... अन्दर अति सूक्ष्म भगवान प्रगट है। इन जड़ इन्द्रियों से अलग अति सूक्ष्म (है)। आहा...हा...! यह क्या कहते हैं? वह विकल्प से भी जाना जाए – ऐसा नहीं। शुभराग के विकल्प की वृत्ति से भी भगवान जाना जाए – ऐसा नहीं। अति सूक्ष्म (है)! जैसे सांडसी से सर्प को पकड़े, ऐसे सांडसी से मोती को नहीं पकड़ सकते। ऐसे ही आत्मा को स्थूल विकल्प से नहीं पकड़ सकते। आ...हा...हा...! विकल्प – शुभराग, दया-दान-व्रत आदि ऐसे विकल्पों से भगवान पकड़ में नहीं आता। आ...हा...हा...! क्यों? (क्योंकि) अन्तरंग में प्रगट अति सूक्ष्म प्रभु विराजमान है। आहा...हा...! है? अन्तरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन के बल से... आहा...हा...! इसके अवलम्बन से द्रव्येन्द्रिय का लक्ष्य छूट गया। आहा...हा...! ऊँची बात नहीं बापू! अभी यह तो सम्यग्दर्शन की बात है। समकित-दर्शन! सम्यग्ज्ञान! शुरुआत की प्रथम भूमिका, उसकी बात है। प्रभु! आहा...!

चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से... उसके अवलम्बन के बल से (ऐसा कहा है)। आ...हा...हा...! सर्वथा अपने से अलग किया... यह द्रव्येन्द्रिय को... अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव को पकड़कर, द्रव्येन्द्रिय को अपने बल से अलग किया। आहा...हा...! अलग करने की यह विधि। द्रव्येन्द्रिय को भेद-अभ्यास से (अर्थात्) चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन द्वारा, उसके बल से द्रव्येन्द्रिय को अलग किया। आहा...हा...! सूक्ष्म पड़े (परन्तु) धीमे-धीमे समझना प्रभु! यह बात तो तेरे घर की है! आहा...हा...! यह तो कहाँ से आयी हुई बात है! आहा...हा...! ऐसी बात है, प्रभु! क्या कहें? आहा...हा...!

इन जड़ इन्द्रियों को कैसे जीतना? इसकी पहली व्याख्या की। आहा...हा...! ये जड़ इन्द्रियाँ (है), वे शरीर परिणाम को प्राप्त है। यह शरीर परिणाम है, वह आत्मा का परिणाम

नहीं; यह शरीर की अवस्था है – यह आँख, नाक, यह शरीर की अवस्था है। शरीर की अवस्था को प्राप्त द्रव्येन्द्रिय, उनको.... आहा...हा...! **निर्मल भेद—अभ्यास...** विशेषण दिया। अकेली धारणा का ही अभ्यास करे (कि) अलग है अलग है, तो ऐसा नहीं। आ...हा...हा...! **निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त...** आहा...हा...! अन्तर में सूक्ष्म.... अन्तर में अतिसूक्ष्म भगवान के पास जाकर द्रव्येन्द्रियों को जीता – ऐसा कहने में आता है। आहा...हा...! है? यह तो तुम्हारा छापा हुआ है न? ‘निर्मल भेद—अभ्यास और प्रवीणता...’ दो शब्द प्रयोग किये हैं। **निर्मल भेद—अभ्यास की प्रवीणता से...** धीमे से... जड़ इन्द्रियाँ, यह मिट्टी; इनसे चैतन्य अति सूक्ष्म जो द्रव्येन्द्रियों के अवलम्बन से जानने में नहीं आता, जो भावेन्द्रियों के अवलम्बन से जानने में नहीं आता, जो भगवान की वाणी आदि के अवलम्बन से जानने में नहीं आता। आहा...हा...हा...! अन्दर ऐसा अति सूक्ष्म भगवान आत्मा, उसके अवलम्बन के बल से। बाहर के शुभ विकल्प और भगवान की स्तुति और उसके बल से – ऐसा नहीं कहा। आहा...हा...! सूक्ष्म है बापू!

अनन्त काल में अनन्त बार साधु भी हुआ है। यह तो जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी है। ऐसी वाणी अन्यत्र कहीं है नहीं। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ ‘सीमन्धरस्वामी’ भगवान साक्षात् समवसरण में विराजमान है। उनकी दिव्यध्वनि की यह रचना है। दिव्यध्वनि—ओमकार की यह रचना है।

भगवान ऐसा कहते हैं प्रभु! तुझे यदि द्रव्य इन्द्रिय को जीतना हो तो, आहा...हा...! आहा...! **निर्मल भेद—अभ्यास (कर)!** अकेला राग से अलग... राग से अलग... ऐसा नहीं। **निर्मल भेदज्ञान, अर्थात् राग भी अलग!** आहा...हा...! सूक्ष्म तो है परन्तु बापू! सत्य तो यह है। सत्य और परमार्थ चीज तो यह है। आहा...! **निर्मल भेद—अभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त...** क्या? **अन्तरंग में प्रगट अति सूक्ष्म...** भगवान अन्दर महासूक्ष्म है, अरूपी है। यह जड़ इन्द्रिय तो रूपी है। अन्दर भगवान अरूपी अतिसूक्ष्म अन्तरंग में पड़ा है। आहा...हा...! भगवत्स्वरूप परमेश्वर परमात्मस्वरूप अन्दर सूक्ष्म है, आहा...हा...! (उन जड़—इन्द्रियों को) अनुभव से, **सर्वथा अपने से अलग किया,...** चैतन्य के अभ्यास के बल से जड़—इन्द्रिय को अलग किया—यह जड़—इन्द्रिय का जीतना कहा

जाता है। आँखों को बन्द करके, इस रूप को नहीं देखूँ, कान में कीले डालकर सुनना नहीं, यह कोई इन्द्रिय को जीतना नहीं। समझ में आया? यहाँ तो जड़-इन्द्रिय का जीतना, वह अति सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के राग से भिन्न निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से...अवलम्बन के बल से स्वभाव में रहने पर, उसने जीत ली अर्थात् कि इससे भिन्न पड़ा, उसका नाम द्रव्येन्द्रिय को जीता-ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...!

सर्वथा अपने से अलग किया... कोई ऐसा कहे, कथंचित् जड़ से भिन्न और कथंचित् एक है, ऐसा नहीं। 'सर्वथा' शब्द पड़ा है न? सर्वथा अलग - यह जड़-इन्द्रिय और प्रभु अन्दर अतिसूक्ष्म चैतन्य सर्वथा अलग है। यह जड़-इन्द्रिय आत्मा के स्वभाव के अनुभव कराने में कुछ भी मददगार नहीं, कुछ भी सहायक नहीं। कान से सुना, इसलिए अन्दर समझ में आयेगा - ऐसा बिल्कुल नहीं। आहा...हा...! कठोर बात है। इसे अपने से अलग किया। वह द्रव्येन्द्रियों का जीतना हुआ। है? वह द्रव्येन्द्रिय का जीतना (हुआ)। अब भावेन्द्रिय का जीतना क्या है? - यह विशेष आयेगा....।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)